REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 9 | ISSUE - 3 | DECEMBER - 2019

जितेन्द्र श्रीवास्तव के काव्यकर्म में अभिव्यक्त समग्र जीवनानुभव

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
असि. प्रो. : हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, पचवस–बस्ती.

शोध–सार :

यह शोध–पत्र जितेन्द्र श्रीवास्तव के काव्यकर्म में अभिव्यक्त समग्र जीवनानुभव का विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जिसमें उनके काव्य–संसार को समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय संदर्भों में समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनकी कविताएँ केवल निजी संवेदनाओं तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे व्यापक जनजीवन, श्रमशील वर्ग, स्त्री–अनुभव, संबंधों की जटिलता और बदलते सामाजिक यथार्थ को गहराई से अभिव्यक्त करती हैं। उनके काव्य में गाँव और शहर, परंपरा और आधुनिकता, व्यक्तिगत और सामूहिक अनुभवों का संतुलित समन्वय दिखाई देता है, जो जीवन की बहुआयामी सच्चाइयों को सामने लाता है। साथ ही, उनकी भाषा सरल, संवेदनात्मक और संवादधर्मी है, जो पाठक को सीधे जीवन के यथार्थ से जोड़ती है। इस शोध का निष्कर्ष यह है कि जितेन्द्र श्रीवास्तव का काव्य समकालीन हिन्दी कविता में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि उसमें अभिव्यक्त जीवनानुभव न केवल व्यक्तिगत चेतना का विस्तार है, बल्कि सामाजिक यथार्थ की सशक्त और संवेदनशील अभिव्यक्ति भी है।

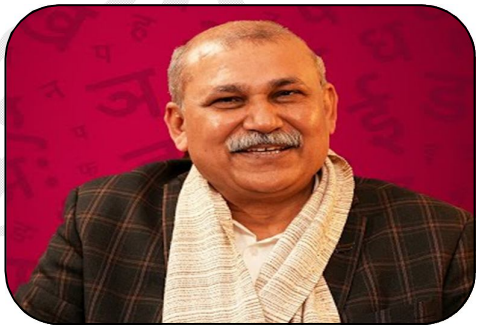

कुंजी शब्द : समकालीन हिन्दी कविता, जीवनानुभव, सामाजिक यथार्थ, संवेदनशीलता, जनजीवन, स्त्री–विमर्श, काव्यभाषा, यथार्थवाद, सांस्कृतिक संदर्भ, मानव अनुभव

कविता को पढ़ते समय उसकी भाषा–भंगिमा को हमें किस तरह देखना चाहिए, यह हमेशा से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है। हिन्दी की आधुनिक कविता की भाषा का निर्माण उसके गद्य के बाद (या थोड़ा साथ ही) हुआ है। विभिन्न काव्यान्दोलनों से गुजरते हुए आज समकालीन हिन्दी कविता की जो भाषा–भंगिमा है, वह इसलिए विशेष है कि वह अपने आभिजात्य को छायावाद और प्रयोगवाद के पास ही कहीं छोड़ आयी है। आज कविता की भाषा सच्चे अर्थों में जनता की भाषा है, वह एकदम सामान्य बातचीत या संवाद की भाषा है (और शायद इसीलिए उसपर गाहे–बेगाहे सपाटबयानी के आरोप भी लगते ही रहते हैं)। अस्सी के दशक के बाद और फिर एक पीढ़ी जिसकी कविताएँ नब्बे के दशक में आनी प्रारम्भ होती हैं, जिसे कुछ बहसों में 'लांग नाइंटीज़' भी कहा गया है, की काव्य–भाषा समकालीन कविता के दौर में विशेष ध्यानाकर्षण की मांग करती है। यह वह दौर है, जिसमें बहुत सारे कवि एकसाथ लिख रहे थे, उन सभी का मिजाज़ अलहदा था, शिल्प के संस्तरों में विभिन्नता थी, लेकिन उसमें बहुत कम ऐसा था जिसे बूझने में सामान्य पाठक को कोई समस्या हो। ध्यान देने की बात यह भी है, कि समकालीन कविता की सबसे ज़्यादा लोकप्रिय और बहुपठित कविताएँ भी इसी दौर में आती हैं।

जितेन्द्र श्रीवास्तव हिन्दी के सुपरिचित कवि हैं, उन्हें लिखते हुए अब प्रायः बीस वर्ष से भी अधिक हो

रहे हैं। उनकी इस सुदीर्घ काव्य–यात्रा के गवाह 'इन दिनों हालचाल', 'अनभै कथा', 'असुंदर–सुंदर', 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' और 'कायांतरण' जैसे काव्य–संग्रह हैं। वस्तुतः, किसी भी कवि को एक सीमित आलेख मात्र में समग्रता से देख पाना एक उलझा हुआ काम है, वह भी तब जब कवि के पास विषयों और उनको बरतने के तरीके का समुचित वैविध्य हो। किसी कवि की प्रारम्भिक कविताओं से लेकर एकदम ताज़ा कविताओं पर विचार करते समय निश्चित रूप से एक कवि के रूप में उसका विकास, उसकी परिपक्वता और भाषा या शिल्प के स्तर पर होने वाले सभी परिवर्तन, यह सभी कुछ विमर्श के दायरे में आ जाता है। अतएव, इस आलेख को एक कवि के काव्य–क्षितिज के विस्तार के अवगाहन का एक प्रयास भर ही माना जा सकता है। किसी योजनाबद्ध शुरुआत से पहले ही हमें यह समझ लेना चाहिए कि एक कवि के रूप में जितेन्द्र श्रीवास्तव के व्यक्तित्व की निर्मिति के आधारभूत अवयव क्या हैं। यह इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि मेरी दृष्टि में वे एक बेहद ईमानदार कवि हैं। उनके जीवन और उनकी कविता में अपरिमित साम्य है, काव्य विषयों से लेकर कविताओं में अनुभवों की विन्यस्तता तक, हर जगह आप पायेंगे कि कहीं कुछ भी ऐसा नहीं है जो उनके जीवन में उपस्थित न हो। एक कस्बाई माहौल में पले–बढ़े युवक के जीवन में जो ज़रूरी अनुभव होते हैं, वे सब उनकी कविता में हैं। बेरोजगारी, प्रेम, विस्थापन, स्मृतिजीविता, लोक का आख्यान, मध्यमवर्गीय जीवन की विसंगतियाँ, श्रमशील समाज के अक्स और सामाजिक–राजनैतिक यथार्थ जैसे तत्त्व उनकी कविता में उपस्थित हैं।

जितेन्द्र श्रीवास्तव की विशेषता यह है कि वे शोर मचाने वाले कवि नहीं है, वे बेहद मद्धिम आवाज़ में अपनी बात कहने वाले कवि हैं। जब मैं यह कह रहा हूँ तो मुझे हिन्दी के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की कही यह बात याद आ रही है, जो वे प्रायः कहा करते थे कि कविता में 'लाउड' होना ठीक नहीं है, उसके लिए अन्य कई कला–माध्यम मौजूद हैं। अब यह आवश्यक नहीं कि उनकी इस बात से सहमत ही हुआ जाए, यही कारण भी है कि हिन्दी में विभिन्न मिजाज़ के कवि मौजूद हैं, लेकिन इतना ज़रूर है कि कविता में करुणा की अनिवार्य उपस्थिति का जो प्राचीन मत है, वह कविता के मन्द स्वर में ही अपना समूचा आकार प्राप्त करता है। जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता पर विचार करते हुए भी यह बात स्पष्ट होती है कि वे अस्सी के दशक में ख़ासा प्रचलित हुए 'गोली दाग़ो पोस्टर' मुहावरे से कतई प्रभावित नहीं हैं। उनकी कविताएँ देह की मद्धिम हरारत की कविताएँ हैं, जो अपनी गहरी भावुकता में अभीष्ट करुणा को सम्भव बनाती हैं। इसीलिए यदि यह कहा जाए कि उनकी कविताएँ भाषा के विनम्र आवरण से झाँकते समग्र जीवनानुभवों की कविता है, तो यह अकारण नहीं होगा। उनकी कविता के विविधवर्णी फलक ने जिन विविध काव्य–विषयों को आच्छादित कर रखा है, उनसे गुजरते हुए यह बात और अधिक पुष्ट होगी।

जितेन्द्र श्रीवास्तव के काव्य–जीवन के प्रारम्भ की एक कविता, जो दरअसल सत्रह वर्ष के एक किशोर की कविता है, शीर्षक है 'अब इसे स्वीकार कीजिए' की कुछ पंक्तियाँ हैं :

आप दर्द समाप्त करने के लिए
प्रेम कविताएँ पढ़ते हैं
और मजदूर खुश होने के लिए
मौसम के गीत गाते हैं

इन पंक्तियों को पढ़ने समय यह आश्चर्य होता है कि यह एक सत्रह वर्ष के कवि की रचना है। यह वह उम्र होती है जब हर किशोर प्रेम में डूबी हुई सपनीली दुनिया में रहता है, उसकी कविताएँ भी इन्हीं अनुभवों के आस–पास रहती है। लेकिन यह कविता कवि की परिपक्व बौद्धिक समझ की कविता है। यह बेहद सहजता से, बिना किसी सान्द्र वैचारिकता के एक महत्वपूर्ण बात कहती है कि शहर के बौद्धिक वर्ग और गाँव के श्रमशील समाज में दुख के विरेचन की जो प्रक्रिया है वह कितनी अलग है। भारतीय समाज में वर्ग विभाजन की त्रासदी को रेखांकित करने में यह छोटी सी कविता पूर्णतया सफल होती है। कवि के जीवन में जो सतत विस्थापन है, गाँव से गोरखपुर, गोरखपुर से दिल्ली, फिर पहाड़, फिर एक कस्बा और अंततः फिर दिल्ली, उसके प्रारम्भिक संस्तर इस कविता में परिलक्षित होते हैं। यह कवि के जीवन में व्याप्त विस्थापन के भाव का प्रस्थान–बिन्दु है।

विस्थापन के ही भाव को रेखांकित करती उनकी एक कविता है, 'भावनाएँ हो चुकी हैं कातर' :

भावनाएँ हो चुकी हैं कातर
कैसे ढूँढोगे बिना नम्बर का मकान
वह कस्बा पहले जैसा नहीं रहा
नहीं जानते पड़ोसी
पड़ोसी का पता
जाना तो पूरी तैयारी से जाना
अच्छा नहीं लगेगा बैरंग वापस आना

यह कविता सभ्यता के तथाकथित विकास में छोटे कस्बों के भावनात्मक स्थापत्य के नष्ट होते जाने की कथा है। हम सभी जानते हैं कि पहले गांव–जवार ही नहीं छोटे कस्बों में भी लोग एक दूसरे से ठीक से परिचित होते थे, प्रायः ऐसा होता था कि आप रेलवे स्टेशन पर किसी का नाम लें और कोई आपको उनके घर तक छोड़ आये। विकास की अंधाधुंध दौड़ में मोहल्ले कॉलोनियों में बदल गये, जहाँ पारस्परिक सम्बन्धों की ऊष्मा की कोई जगह नहीं थी। महानगरीय जीवन की विडम्बना की यह संक्रामकता कब हमारे कस्बों तक पहुँच गयी, हम समझ ही नहीं पाये। इस कविता का रचनाकाल 1993 का है, ध्यातव्य है कि यह वही समय है जब उदारीकरण के परिणाम हमें भारतीय परिदृश्य में दिखने लगे थे। वैश्विक नागरिकता हासिल करने की होड़ में हमने अपने मोहल्लों की नागरिकता को क्षतिग्रस्त कर दिया था, पड़ोसियों को पहचानना या उनके दुख–सुख में सम्मिलित होना अब 'ओल्ड फैशन' समझा जाने लगा था। यह कविता नागरिकता की इस विडम्बना को बिना शोर–शराबे के हमारे सामने रखती है।

कवि की एक इधर की कविता है 'खेतों का अस्वीकार', इसको पढ़ते समय आप समझ पायेंगे कि किस तरह जीवन की यात्रा में विस्थापन के अर्थ बदलते हैं :

देवियो–सज्जनों
मालिक बनने को उत्सुक लोगो
आज उन खेतों ने
मुझे पहचानने से इनकार कर दिया है
जिनके मालिक थे मेरे दादा
उनके बाद मेरे पिता
और उनके बाद मैं हूँ
बिना किसी शक–सुब्हे के

इस कविता में कवि एक अरसे बाद अपने ही खेतों के सामने खड़ा खुद को अजनबी पाता है। सत्य यह है कि ये वही खेत हैं, जिनमें कवि अपने कैशोर्य में अपने पिता के साथ जूझा था। लम्बे प्रवास ने कवि को कितना परिवर्तित कर दिया है, यह आत्मालोचन कवि खेतों के संवाद के माध्यम से स्पष्ट करता है। इस कविता में भारतीय किसान के जीवन की विडम्बनाएँ भी बिना किसी 'लाउड स्टेटमेंट' के स्पष्ट होती हैं, 'चारों ओर पसरा योजनाओं का कीचड़' जैसी काव्यपंक्ति से कवि एक कृषिप्रधान देश में खेती के हाशिए पर चले जाने की त्रासदी को अभिव्यक्त करता है। सबसे महत्वपूर्ण है कि यहाँ कवि दिल्ली में बैठा अपने विस्थापन का विलाप नहीं कर रहा है, अपितु वह उस ज़मीन पर खड़ा होकर खुद को मूल्यांकित कर रहा है कि खेतों का मालिकाना हक़ केवल खसरा–खतौनी में नाम या विरासत दर्ज होने से नहीं होता, खेत का स्वामित्व उसका होता है जो उसकी मिट्टी में पाँव भर धँसता है, जिसके पसीने का द्रव उसकी मिट्टी में सम्मिलित होता है। यहाँ सबसे अधिक जो बात उल्लेखनीय है, वह यह कि यह कविता खेती–किसानी के पक्ष में होते हुए भी कोई नारेबाजी नहीं करती बल्कि बेहद आहिस्ता से खेत के दुख के बहाने एक सार्वभौम उदासी को हमारे सामने रखती है।

कवि के जीवन में विस्थापन के कई स्तर हैं, जैसे कि पहले भी बात हुई है कि वह चरणबद्ध तरीके से कई बार हुआ है। कवि के जीवन का एक लम्बा समय पहाड़ पर बीता है, पहाड़ से लौटना भी उनके जीवन का एक नया विस्थापन है। यह अपनी जड़ों से विस्थापन न होते हुए भी इन अर्थों में मार्मिक है कि कवि उस ज़मीन के ऋण को समझता हुआ वहाँ के जीवन, प्रकृति और लोक से स्वयं को इतना सम्बद्ध पाता है कि उसकी स्मृतियों में कहीं एक बुरूँस का फूल बचा रह जाता है। कवि ने अपने जीवन के इस पक्ष को बेहद सहजता के साथ अपनी कविता 'रक्त–सा लाल एक फूल' में दर्ज़ किया है।

मैं पहुँचा पहाड़
मैं रमा पहाड़ में
मैंने जाना वहाँ
कहीं कोई फ़र्क़ नहीं था रोटी में
हवा में उतना ही दुलार था
नींद में उतना ही घनत्व

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि पहाड़ की नागरिकता को पूरी आत्मीयता के साथ स्वीकार करता है। यह सिर्फ़ रोजी–रोटी के लिए एक जगह से दूसरी जगह जाने तक सीमित नहीं है, अपितु वहाँ की संस्कृति में गहराई के साथ सम्मिलित होने की प्रक्रिया है। हिन्दी में विस्थापन को लेकर तमाम कविताएँ हैं, किन्तु रोजगार की तलाश में किसी जगह गये कवि का उस जगह से इतना भावनात्मक जुड़ाव कम दिखता है। यह आधुनिक सभ्यता में विस्थापन के एक नये और कम परिचित आख्यान को परिलक्षित करता है।

कुछ ऐसे ही सन्दर्भों से जुड़ी हुई कवि की एक कविता है 'यात्रा', जिसमें गाँव से मुम्बई जा रहे एक व्यक्ति के रेल की खिड़की से बाहर झांकने का दृश्य है। पूरब के लोगों का रोजगार के लिए इन बड़े शहरों की ओर विस्थापन बहुत पुरानी परिघटना है। यहाँ जिस तथ्य को छूने का प्रयास कवि कर रहा है, वह विस्थापन से उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तनों की प्रस्तावना है। बड़े पैमाने पर हो रहे इस प्रवास के कारण ग्रामीण लोक किस तरह प्रभावित और परिवर्तित हो रहा है, किस तरह एक पूरी सभ्यता सांस्कृतिक स्तर पर परिवर्तित होती जा रही है, यह कविता उसका उदाहरण है :

रेल की खिड़की से झांकता है एक यात्री
पलभर में दिख जाता है कहीं दूर जलता एक चिराग
उसे याद आता है एक लोकगीत
जिसे अक्सर गुनगुनाते थे उसके पिता
खेत की मेड़ पर खड़े होकर

यहाँ ध्यातव्य है कि एक प्रवासी की स्मृतियों की जो निर्मिति है, उसमें लोक किस तरह प्रवेश करता है। यह जाहिर सी बात है कि दूर कमाने गया व्यक्ति अपने खेत और अपनी मेड़ से दूर जाता है, लेकिन उसकी स्मृतियों में पिता द्वारा गुनगुनाये गये एक लोकगीत का स्मृति में बचा रह जाना एक महत्वपूर्ण बात है। अपनी जड़ों से जिन तत्वों के कारण हम गहरी सम्बद्धता का अनुभव करते हैं, उनमें प्रमुख रूप से इन गीतों, रीतियों और परम्पराओं का निवेश है। कहीं गहरे उस व्यक्ति की उदासी में यह भी है कि यह लोक की स्मृति शायद अगली पीढ़ी में अन्तरित नहीं होगी। यह पूरी विनम्रता से प्रकट होती हुई लोक की सांस्कृतिक अवस्थिति में हो रहे बड़े और घातक परिवर्तनों की छाया है।

लोक की बात करते हुए अनायास उनकी बहुचर्चित कविता 'सोनचिरई' याद आती है, जो भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित एक सोहर (सासू कहे बहू बाझिन ननद निर्बंसिन हो/बहिनी जेकरा प्राणपियारी उहो कहै बाझिन/निकरि जा तू घर से हो/घरा मे से निकरी तिरियवा जंगल बीच रोवे/बहिनी केहू यहि जंगल मे होतै हमै खाई लेतै/हमहि मरि जाइत हो/जंगल से निकरी बघिनिया त दुख सुख पूछेई हो/बहिनी कवन संकट तोहरे जियरा बिरहि बहु रोवहु हो/सासू कहे बहु बाझिन ननद निर्बंसिन हो/बहिनी, जेकरा के प्राणपियारी उहो

कहे बाझिनी हो.....) से प्रभावित है। यह कविता दो स्तरों पर महत्वपूर्ण है, एक तो कविता में कथा–तत्त्व की प्रतिष्ठा का अप्रतिम उदाहरण है, वहीं दूसरी ओर कविता में लोक के सन्निवेश का एक नया आयाम रचती है। प्रो. नामवर सिंह सहित कई आलोचकों ने लोक को कविता की राह सुझाने वाले तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया है। विडम्बना है कि हिन्दी कविता में एक बड़ा दौर ऐसा भी चला है कि कवियों ने लोकभाषाओं के कुछ शब्दों को यहाँ–वहाँ कविता में रखकर उसे लोक–कविता साबित करने की कोशिशें की हैं, ऐसी कविताएँ आज भी मिल जायेंगी जिनमें लोक के नाम पर जानबूझकर सामान्य पाठक से अपिरिचत कुछ बोलियों के शब्दों को चिपका दिया जाता है। व्यक्तिगत रूप से मुझे यह लगता है कि जबतक लोक का वह आंचलिक वातावरण, उसकी करुणा की स्थानिकता और त्रासदियों में डूबता–उतराता जीवन–संघर्ष कविता में नहीं आते, तबतक किसी कविता को लोककविता कहना एक बड़ी भूल है। 'सोनचिरई' कविता अपनी व्याप्ति में, अपनी आख्यानिकता में लोक का वही वांछित संसार रचती है। कवि ने लैंगिक अस्मिता के प्रश्न को लोक की एक प्रचलित कथा के माध्यम से इतनी सहजता से कविता में उपस्थित किया है, कि उसमें कोई शोर नहीं है। करुणा के विगलन से मूर्त्त और निरंतर दृढ़ होते हुए एक स्त्री के मार्मिक संसार को पूरे कौशल के साथ कवि ने इस कविता में सम्भव बनाया है :

सोनचिरई आठ बेटों की माँ थी
वह स्त्री थी
और स्त्री कभी बाँझ नहीं होती
वे रचती हैं!
वे रचती हैं तभी हम–आप होते हैं
तभी दुनिया होती है
रचने का साहस पुरुष में नहीं होता

लोक के आंचलिक तत्त्व को ही पूरी तरह काव्य–विषय में समाहित करती कवि की एक अन्य कविता है 'गोर्रा नदी'। नदियाँ यदि पूरब का वैभव हैं, तो इस क्षेत्र की त्रासदी भी हैं। अपने जल से पूरे क्षेत्र में जीवन–रस प्रवाहित करती ये नदियाँ अपना रूप बदलकर कभी विनाशिनी भी बन जाती हैं। प्रकृति के मध्य रहता हुआ पूर्वांचल का कृषक समाज किस तरह उसपर निर्भर है, और प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित होते रहने के बाद भी उसकी जिजीविषा किस तरह अक्षुण्ण रहती है, यह इस कविता के माध्यम से हम जान पाते हैं। नदी यहाँ अपने प्रचण्डतम रूप में यहाँ कवि के लिए लोक की प्रतिनिधि है, कवि किस तरह उसके निर्मम रूप के सौन्दर्य को भी देख पाता है, यह इस कविता की उपलब्धि है। इन पंक्तियों में कवि ने अपूर्व रूप में नदी के सौन्दर्य को वर्णित किया है :

लोग कहते हैं नदियाँ बरसातों में
नैहर करने आती हैं
खुली जुल्फें, सिर से गिरा आंचल
न कोई रोक–टोक न लाग–लपेट
चैत–बैशाख के पछुआ की तरह
बहती है नदियाँ

इन पंक्तियों में कवि ने नदी के लिए जिस बिम्ब का प्रयोग किया है वह लोक की एक प्रचलित सांस्कृतिक छवि है। मुझे नहीं याद पड़ता कि कभी किसी ने उफनाती नदी के लिए मायके आई स्त्री की स्वछन्दता का बिम्ब प्रयुक्त किया हो। 'नैहर करना' पूरब में स्त्री की सीमिता स्वतंत्रता का एक पक्ष है, गहनों से लदी–फंदी, अपने वैभव का प्रदर्शन करती, थोड़ी बेपरवाह, बेखबर, अपनी मस्ती में, अपने प्रवाह में चलती। नदी भी यहाँ ऐसी ही है, अपने समस्त अनुशासन को तोड़कर पूरे प्रवाह में बहती हुई, बिना इस बात की फिक्र किये कि उसके रास्ते में क्या आयेगा और उसका क्या हाल होगा। इतना ही नहीं नदी के प्रवाह की भयावहता को

क्रमिक विकास के रूप में देखता हुआ कवि कविता के अन्त में नदी को 'डसकर उलट गयी किसी नागिन' के रूप में बिम्बित करता है, यह एक अनूठा बिम्ब है। पूरी कविता में नदी की विभीषिका को वर्णित करते हुए भी कवि उस 'लोक' के सौन्दर्य को बनाये रखता है जो समस्याओं, अभावों और चुनौतियों से जूझता हुआ भी अपने अस्तित्व को बचाये रखता है।

लोकजीवन की जिजीविषा को व्याख्यायित करते हुए कवि की एक कविता है 'सूर्य की घड़ी का हिसाब', जिसके माध्यम से कवि उस 'जन' की बात करता है, जिसके पास सूर्य की आँखों में आँखें डालने का साहस है। कवि इस कविता में उस विरोधाभास को प्रकट करता है, जिसने हमारे समाज में वर्ग–विभाजन की एक बड़ी खाई को जन्म दिया है। यहाँ स्पष्ट होता है कि समय की वास्तविक नब्ज़ और लोक की आन्तरिक लय को समझने का कौशल व्यापारियों, दलालों या अपनी आत्मा बेचकर सफलता के पायदान चढ़ते लोगों के पास नहीं है, वह एक स्त्री के पास है, जो अपने पति के लिए कलेवा लेकर जा रही है :

सूर्य की घड़ी का ठीक–ठीक हिसाब
उस स्त्री को पता है
जो कलेवा लेकर जा रही है
पत्थर तोड़ रहे पति को देने छाँव
आखिर सूर्य की घड़ी का ठीक–ठीक हिसाब
वही तो बतायेंगे
जो उसकी आँखों में आँखें डाल
उससे हाथ मिलाएँगे।

इसी तरह अपनी एक कविता में जितेन्द्र श्रीवास्तव स्पष्ट रूप से 'लोक' को श्रमशीलता के साथ सीधे तौर पर सम्बद्ध करते हुए दिखते हैं। 'लोक का चेहरा' शीर्षक कविता में वे 'बिदेसिया' गीतों के माध्यम से लोक के स्पष्ट चेहरे को पहचानते हैं। वे साफ़ करते हैं कि लोक की स्थापना तथाकथित आभिजात्य कला से सम्भव नहीं होगी, बल्कि उन ग्राम्यगीतों से होगी, जिनमें प्रवासी से बिछोह की पीड़ा है, दुख के नैरंतर्य की मार्मिकता है और लगातार जीवन में सम्मिलित होती त्रासदियों की अन्विति है। यही कारण है उनकी इस कविता में पंक्तियाँ इस तरह आकार पाती हैं :

यदि कोई देखना चाहे
हमारे लोक का चेहरा
वह देख सकता है
श्रम की आँच में तपे इनके चेहरे
इनके चेहरों पर
अपनी साँवली आभा के साथ
दिपदिपाता है हमारा लोक

कवि की एक कविता है 'दिल्ली में बेना', इस कविता को पढ़ते हुए केदारनाथ सिंह की कविता 'तौलिया और गमछा' याद आती है, जहाँ एक ही तार पर सूखते तौलिये और गमछे के माध्यम से कवि गाँव और शहर के सांस्कृतिक अंतर को रेखांकित करता है। यह कविता थोड़ी अलहदा है, यह दिल्ली जैसे आधुनिक शहर, जो उत्तर भारत के तमाम गाँवों से दशकों आगे हैं, में एक अचानक पैदा हुई परिस्थिति का वर्णन करती है, जिसके कारण शहर के सुविधाभोगी आभिजात्य में गाँव का लोक प्रवेश पाता है। हम एक ऐसे समय में जी रहे हैं, जहाँ हमारी अगली पीढ़ी बिजली चले जाने का अर्थ ही नहीं जानती होगी। छोटे कस्बों और गाँवों में बिजली का जाना एक सामान्य परिघटना हुआ करती है, इसलिए लोगों के लिए 'बेना' एक आवश्यक वस्तु है, किन्तु शहर में उसकी उपस्थिति एक सांस्कृतिक घुसपैठ है। इस कविता में बेना केवल एक वस्तुमात्र तक सीमित नहीं है, कवि पिता द्वारा रातभर बिजली न रहने पर बेटियों को दी जाने वाली तसल्ली है, एक बड़ा भावनात्मक प्रतीक है :

पल–पल काटते किसी तरह बीती रात
और सुबह चाय पीते हुए कहा पत्नी ने
अच्छा ही किया जो और सामानों के साथ
ले आए लालटेन भी दिल्ली
वरना जितनी दे पाए उतनी भी तसल्ली
कहाँ से लाते बेटियों के लिए

जिक्र हुआ ही है तो इसी क्रमबद्धता में कवि की एक और कविता 'दिल्ली में लालटेन' की चर्चा बेहद प्रासंगिक हो गयी है। यह कविता बताती है कि नये शहरों के आधुनिक वास्तुशास्त्र में कहीं कोई ताखा या दीयाठी नहीं है जहाँ लालटेन को रखा जा सके। यह किसी आधुनिक घर में केवल एक वस्तु के ठीहे की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि लोक की चीज़ों के हमारे नागरिक जीवन और सभ्यता से विस्थापित होते जाने का बड़ा प्रतीक है। कवि इस कविता में स्मृतिजीवी होता है और याद करता है कि किस तरह लालटेन उसके जीवन में गहरे रूप में उपस्थित रही है, किस तरह कवि ने उसकी रौशनी में वर्णमाला सीखी, पिता के चेहरे की आभा कैसे दमकती थी उसकी रौशनी में, कैसे कवि ने अपना पहला प्रेमपत्र उसकी उजास में लिखा था। कवि के मन में एक ख़लिश है कि घर में सुख–सुविधा की तमाम वस्तुओं की जगह तो सुरक्षित है, किन्तु लालटेन के लिए कोई जगह इस नयी सभ्यता में नहीं है। फिर भी, उसके भीतर एक उम्मीद है, और वह बेमानी भी नहीं है :

न जाने क्यों मुझे लगता है
कि किसी ऐसे दिन जब
बिजली इन्वर्टर सब छुट्टी पर चले जायेंगे
अमावस की रात में कुछ न सूझेगा
तब थोड़े से मिट्टी के तेल और एक बाती के सहारे
इतनी रौशनी ज़रूर हो जाएगी
कि रसोई में बन सकें रोटियाँ
और अपनी प्रिय किताब से पढ़ा जा सके एक पन्ना

कवि के जीवन के यथार्थ और कविता दोनों में अपने पूरे पक्केपन और सांद्रता के साथ मौजूद प्रेम को कवि ने बेहद सावधानी के साथ अपने काव्यकर्म में बरता है। अस्सी के दशक के बाद हिन्दी में विचारधारा सापेक्ष कविताओं के आग्रह के चलते प्रेम कविताएँ हाशिए पर चली गयीं थीं। समकालीन कवियों में जितेन्द्र श्रीवास्तव प्रेम के औदात्य और ईमानदारी के कवि हैं। भ्रमित आवारगी और अनिश्चय से एकदम अलग प्रेम की परिपूर्णता और उससे उपजी सतत निष्ठा की कविताओं के लिए कवि को विशेष तरह से पढ़ा जाना चाहिए। यह भी एक आश्वस्तिपरक बात है कि पत्नी के रूप में प्रेमिका को देखते हुए हिन्दी में केदारनाथ अग्रवाल के संग्रह 'हे मेरी तुम' के बाद कवि का ही संग्रह है 'बिल्कुल तुम्हारी तरह', जो हिन्दी कविता की एक अनूठी परिघटना है। जाहिर तौर पर यहाँ प्रेम का कोई जोखिम या रोमांच नहीं है, बल्कि एक अविरल स्निग्धता है, एक मासूम डूब है और एक व्यापक ऊष्मा है। यहाँ देह कहीं पीछे या पार्श्व में है, बिल्कुल अरेखांकित, जबकि भावात्मक सजलता अपनी काव्यात्मक वैशिष्ट्य के साथ उपस्थित है। कभी–कभी आश्चर्य भी होता है कि बिना किसी दैहिक आवेग के कवि किस किस तरह स्वयं प्रेम के इतने सघन वितान में बाँध पाता है, उदाहरण के लिए एक कविता है 'ललछौंह संजीवनी हँसी', इसमें कवि स्वयं को एक असाधारण बिम्ब में प्रस्तुत करता है 'हँसी की कोर में ठहरा हुआ–सा/कि पत्ता हो कोई ज्यों कहीं अटका हुआ–सा', यह बिम्ब अद्‌भुत है :

कि तुमको मालूम नहीं शायद
कि मैं बचा हूँ जितना भी अभी तक
इसी हँसी की कोर में ठहरा हुआ–सा
कि पत्ता हो कोई ज्यों कहीं अटका हुआ–सा

कि अब गिरा कि तब गिरा
कि गिरना चाहता नहीं मैं
तुम्हारे अधर से

कवि की प्रेम कविताओं से यह बात उभर कर सामने आती है कि उसके जीवन में जो प्रेम है वह वैयक्तिक मात्र नहीं है, वह शहर में अपने साथी की उपस्थिति, उसके साथ व्यतीत समय के हिस्सों, साझा सुख–दुख के माध्यम से बहुत छोटी–छोटी चीज़ों और घटनाओं में विन्यस्त है। इस प्रेम में संवाद के मध्य के अन्तराल की भी विशिष्टता है और अलग–अलग शहरों में रहते हुए दृष्टि के अन्तराल की भी। शास्त्रीय प्रविधि से देखें तो यह एक उदात्त और मर्यादित प्रेम की छवि है, जिसे अनुभव करते हुए सत्तर के दशक की बेहद खूबसूरत और मासूम फ़िल्मों की स्मृति अनायास ही आ जाती है। 'विदा' जैसी कविताओं में कवि का यह कहना कि *'कौन पहचानेगा मुझे तुम्हारी नज़र लेकर/इतने वर्ष शहर में नहीं/तुम्हारी आँख में रहा हूँ मैं'*, कितना सादा किन्तु कितना गरमाहट से भरा हुआ बयान है। 'चुटकी भर मैं' कविता में *'तुम्हारा कहीं भी होना/मेरे साथ होना है/मेरा कहीं भी होना/तुम्हारे साथ होना है'* कहता हुआ कवि मोमिन की याद दिलाता है *'तुम मेरे पास होते हो गोया जब कोई दूसरा नहीं होता'*।

युवा देह के रोमांच से परे परिपक्व प्रेम को हिन्दी कविता में कम देखा गया है। जीवन की दूसरी पारी में, अधेड़ावस्था में कैसा प्रेम सम्भव हो सकता है, इस ओर कवियों का ध्यान कम गया है। कवि के संग्रह में एक ऐसी अनूठी कविता है 'मिलना', जो इस सम्भावना पर विचार करती है कि जीवन की आपाधापी से परे जब थोड़ा अवकाश मिलेगा तब शायद हम एक दूसरे से उस तरह मिल सकेंगे, जैसे आज सम्भव नहीं हो पाता है। इस 'मिलन' में देह कहीं नहीं है, एक स्थिरता है और तमाम बेचैनियों का स्थगन भी :

तब तक कम हो चुका होगा ताप देह का
कम हो चुकी होगी रोशनी आँखों की
बहुत–सी जिम्मेदारियों से मिल चुका होगा अवकाश
तब ठहर पायेंगे शायद
इस भागती–दौड़ती बेचैन दुनिया में
कुछ समय अपने लिए सिर्फ अपने लिए

कवि ने अपने विस्थापन की पीड़ा को अपने प्रेम के साथ सम्बद्ध किया है अपनी कविता 'स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को' में। यह कविता बताती है कि कवि किस तरह शहर–दर–शहर भटकता हुआ भी अपनी जिजीविषा को बचाए रख पाता है क्योंकि उसकी स्मृतियों में एक स्त्री और उसका गहन प्रेम बचा हुआ है। यह प्रेम कवि के लिए जीने का अर्थ है, प्राणवायु है। आधुनिक जीवन और भटकाव की एक त्रासदी है 'अजनबीपन', जाने कितने शहरों में कवि इस अजनबीपन से जूझते हुए खुद को बचाने की कोशिशों में मशगूल रहा है, और उसका कहना है कि इस बचाव के प्रयास में प्रेम की स्मृति का महत्तर योगदान है :

इस प्रकार एक अपरिचित शहर में
असमय मृत्यु से बचाती रही
स्मृतियों में बसी एक स्त्री
स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को

प्रेम कविताओं के संकलन की शीर्षक कविता 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' की चर्चा किये बिना कवि की कविताओं में प्रेम के वास्तविक स्वरूप का सम्यक संज्ञान असम्भव है। इस कविता की विशेष बात यह है कि कवि इसमें अपने पुरुष होने के बोध को स्वीकार करते हुए यह मानता है कि प्रेम में जो त्याग, जो समर्पण एक स्त्री की ओर से सहज सम्भव हो पाता है वह पुरुष की ओर से नहीं हो पाता है। प्रेम में लोकतांत्रिक होने की तमाम कोशिशों के बाद भी अपनी उलझनों में डूबे हुए कवि को यह लगता है कि उसकी साथी जिस तरह कवि

के सुख–दुख के रंग और भाषा को पहचानती है, उसकी बातों को सुनती–समझती है, उसतरह एक पुरुष के रूप में कवि नहीं कर पाता। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पगे इस समाज में कवि का यह आत्मस्वीकार, उसकी यह आत्मालोचना विरल है :

मैं अच्छी तरह जानता हूँ
तुम पहचानती हो मेरे सुख का रंग उसकी भाषा
पर संग–साथ के इतने वर्षों बाद भी
ठीक यही बात मैं नहीं कह पाऊँगा अपने लिए

कवि की स्मृतिजीविता भी उनकी कविताओं की एक विशेष भंगिमा है। उनकी सहज भावात्मकता केवल पत्नी से प्रेम के लिए नहीं है, अपितु अपने पिता को याद करते हुए, नानी को याद करते हुए, तमाम बचपन के साथियों को याद करते हुए इस भंगिमा के दर्शन होते हैं। उनके लिए पिता को याद करना केवल एक सम्बन्ध को याद करना नहीं है, बल्कि पिता के बहाने वे उस समय और उसके संस्कार को शब्दों में परिणत कर रहे होते हैं। जैसे एक कविता 'उम्मीद' में वे लिखते हैं :

उन दिनों बाबूजी कहते थे
किताबों को उसी तरह बचाकर रखना चाहिए
जैसे हम बचाकर रखते हैं अपनी देह
वे भाषा के संस्कार को मनुष्य के लिए
उतना ही जरूरी मानते थे
जितनी ज़रूरी होती हैं जड़ें
किसी वृक्ष के लिए

कवि के मिज़ाज की सहजता से प्रायः यह भ्रम हो सकता है कि राजनैतिक या सामाजिक विसंगतियों को लेकर उनका स्वर उतना मुखर नहीं है, किन्तु यह तथ्य ठीक नहीं है। अपनी कविता 'रामदुलारी' में वे उसे तमाम तथाकथित श्रेष्ठतर जातियों के स्त्रियों और पुरुषों से इसलिए श्रेष्ठ बताते हैं कि उसने अपनी निष्कलुषता में 'मर्दमारन' का ताना सहते हुए भी सच के लिए लड़ना सीखा था। इसी तरह अपनी कविता 'साहब लोग रेनकोट ढूँढ रहे हैं' में वे सरकार की मुखर आलोचना करते हुए अपने राजनैतिक स्वर को स्पष्ट करते हैं :

अक्सर सरकार को फुर्सत नहीं होती
लेकिन उसकी मंशा पर शक मत कीजिए
वह रोकना चाहती है किसानों की आत्महत्याएँ
स्त्रियों के प्रति बढ़ती दुर्घटनाएँ
वह दलितों–आदिवासियों को उनका हक दिलाना चाहती है
.....
लेकिन अभी व्यवधान न डालिए
इस समय वह व्यस्त है विदेशी पूँजीपतियों के साथ

इसी तरह 'जो जानते हैं कछार को', 'वह जो चाहता था', 'ज़िन्दा रहने के हिसाब–किताब में', 'लालसाओं की पालकी', 'दर्द की नयी परिभाषा', 'हाशिया खतरे में है', 'अगली शताब्दी के नाम दो कविताएँ', 'संसद के बाहर' और 'जिंदगी के पक्ष में' जैसी कई कविताएँ कवि के खाते में हैं, जिनमें समय और समाज के वैश्विक समकालीन सवालों, जैसे जातिगत विषमताएँ, साम्प्रदायिकता, पूंजीवादी समाज के खतरे, लोकतंत्र की असफलताएँ आदि को सम्बोधित किया गया है।

यद्यपि आलेख के प्रारम्भ में ही यह स्वीकृत किया गया था कि एक कवि के कई संग्रहों में फैले विस्तृत काव्यफलक को पूरी तरह देख पाना इस सीमा में सम्भव नहीं है, किन्तु यह एक संक्षिप्त जायज़ा ज़रूर हो सकता है, जिसके माध्यम से कवि के काव्य–विस्तार को समझने का प्रयास किया जा सके। समग्रतः इस विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि कवि इन विविध काव्य विषयों को बरतता हुआ एक वैयक्तिक काव्यभाषा और शिल्प की निर्मिति करता है। इस काव्यभाषा की विशेषता है बिना शोर मचाए, सहज और साधारण, और प्रायः गँवई शब्दों और मुहावरों के सहारे अपनी बात को अविरल प्रवाह में कहना। बिना आरोप–प्रत्यारोप, बिना विकृत शब्दावली और असुविधाजनक प्रतीकों के इस्तेमाल के कवि अपनी बात कहता है। यही कारण है कि ये कविताएँ अचानक से बेचैन या उद्वेलित करने वाली, नारेबाजी करती हुई कविताएँ नहीं हैं, बल्कि बेहद आहिस्ता से मन की तरंगों को छेड़कर स्थायी रूप से विचारमग्न करने वाली कविताएँ हैं। यह कहना कतई अनुचित नहीं होगी कि एक कवि के रूप में जितेन्द्र श्रीवास्तव भाषा और शिल्प की कोमलता के कवि हैं। वे अपने काव्यशिल्प की लज्जा और मर्यादा को एक साथ बनाए रखते हैं, इसीलिए कई बार वे शब्दों के अंतराल में कुछ कहते हैं, कई बार संकेतों में तो कई बार लोक के मुहावरों में। उनके कहन की यह विशिष्टता प्रेम से लेकर राजनीति तक के विषयों पर केन्द्रित होते हुए बरकरार रहती है। उनकी कविता में न अकाव्यात्मक होते जाने की बेपरवाही है और न ही सजा–सँवारकर रखे गये कलात्मक काव्य–उपकरणों का मेला, वहाँ जीवनानुभव से फूटता हुए एक झरना है, निश्छल और अम्लान, कविता के इस जल का आस्वाद हमें निश्चयात्मक रूप से काव्यानुभव की सम्पूर्णता के प्रति आश्वस्त करता है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची :

(क) प्राथमिक स्रोत

1. *जितेन्द्र श्रीवास्तव. (2005). इन दिनों. वाणी प्रकाशन।*
2. *जितेन्द्र श्रीवास्तव. (2008). बिल्कुल तुम्हारी तरह. वाणी प्रकाशन।*
3. *जितेन्द्र श्रीवास्तव. (2013). कायांतरण. वाणी प्रकाशन।*
4. *जितेन्द्र श्रीवास्तव. (2018). नए समय में. वाणी प्रकाशन।*
5. *(ख) द्वितीयक स्रोत*
6. *नामवर सिंह. (2002). इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन।*
7. *रामविलास शर्मा. (1990). भारतीय साहित्य की भूमिका. राजकमल प्रकाशन।*
8. *मैनेजर पांडेय. (2006). साहित्य और इतिहास दृष्टि. वाणी प्रकाशन।*
9. *विश्वनाथ त्रिपाठी. (2010). लोक और साहित्य. राजकमल प्रकाशन।*
10. *गजानन माधव मुक्तिबोध. (1980). नयी कविता का आत्मसंघर्ष. राजकमल प्रकाशन।*
11. *पुरुषोत्तम अग्रवाल. (2012). अकथ कहानी प्रेम की. राजकमल प्रकाशन।*
12. *अशोक वाजपेयी. (2014). कला का जोखिम. राजकमल प्रकाशन।*
13. *राजेश जोशी. (2016). कविता का लोकतंत्र. राजकमल प्रकाशन।*
14. *कंवल भारती. (2010). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. वाणी प्रकाशन।*
15. *ओमप्रकाश वाल्मीकि. (2001). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. राधाकृष्ण प्रकाशन।*